International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.882, Volume 05, No. 01(III), January - March, 2023, pp. 308-310

भारत में मानवाधिकारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य – एक विवेचन

डॉ. महेन्द्र सिंह राजपुरोहित*

प्रस्तावना

भारत की सांस्कृतिक विरासत का अवलोकन करने पर दिन के उजाले की भांति यह स्पष्ट है कि सभ्यता के उषाकाल से ही व्यक्ति की गरिमा एवं मानव अधिकार की चेतना हमारे में प्रारम्भ से ही विद्यमान रही है । वसुधैव कुटुम्बकम्, मानवतावाद, व्यक्ति की गरिमा, निम्न सामाजिक समूहो के प्रति चिंता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सहिष्णुता एवं समन्वय, समता, अहिंसा इत्यादि मानवाधिकार की कुछ विशिष्टताएं भारत की स्मृद्ध पारम्परिक विरासत में यत्र–तत्र बिखरी पड़ी है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति में मानवीय चेतना की सर्वोच्च – स्थिति के दर्शन होते है। विश्व का प्राचीनतम उपलब्ध वैदिक वाङ् मय भारतीय संस्कृति का मूल आधार एवं प्राण तत्व है । मानवता के प्रथम उद्गार ऋग्वेद के मंत्रो में मानवीय गरिमा व मानवाधिकारों का अस्तित्व दिखलायी पड़ता है। इसमें सभी मानव प्राणियों को एक समान व भाई भाई माना गया है। ऋग्वेद की दो सुक्तियों में मानवाधिकारों से सम्बद्ध महत्वपूर्ण संकेत मिलते है। ''सत्य एक है। बुद्धिमान मनुष्य इसकी अलग ढंग से विवेचना करते है''य (एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति) 'सद्विचार प्रत्येक दिशा से आएं'। इन दोनों सूक्तियों में इस प्राचीनतम दार्शनिक मान्यता का प्रतिनिधित्व होता है कि सार्वभौम सत्य को अनके तरीकों से विवेचित कर समझा जा सकता है। जबकि दूसरी सुक्ति में बुद्धिमता का एक पुंज बनाने का प्रयत्न किया गया है जिसके प्रति सभी को योगदान करना चाहिये और जो अंत में सभी के लिये लाभप्रद है। उक्त विचार एक तरह से मानवाधिकारों की मूल अवधारणा को स्थापित करते है। ऋग्वेद तीन नागरिक अधिकारों को प्रमाणित करता है– Tana (Body – शरीर), Skridi (Dwelling Place– निवास स्थान), Jibhasi (Life – जीवन)[1]

अथर्ववेद के अनुसार सभी प्राणियों को भोजन व पानी (प्राकृतिक संसाधन) पर समान अधिकार हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' इस सिद्धान्त का पालन करने वाले भारतीय मनीषियों का यह चिन्तन रहा है कि सभी के साथ सदैव उदारता का व्यवहार किया जाए–

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चौवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

भारतीय संस्कृति में सर्वत्र यह प्रतिपादित किया गया है कि– सभी प्राणियों में आत्मा का निवास है जो परम पिता परमात्मा का अंश है । अतः हमें सभी प्राणियों के साथ मित्रवत् सौहार्दपूर्वक मधुर व्यवहार करना चाहिये ।

भारतीय संस्कृति अपरिचित अतिथि को भी देवता मानकर उसके पूजन का उपदेश प्रदान करती है– **अतिथिः देवो भव** । इस प्रकार भारतीयों के लिये स्वयं के कल्याण से भी विश्व का कल्याण महत्वपूर्ण है। इस प्रकार हमारी उदारता की भावना परिवार समाज तथा देश के लिये ही नही है अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिये है।

* सह आचार्य – राजनीति विज्ञान, राजकीय बांगड़ स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पाली, राजस्थान।

यहाँ पर **जीओ और जीने दो**'' तथा '**परस्परानुग्रह – जीवानाम्**' रूपी उदारता एवं सहिष्णुता की भावना प्रबल रही है। भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान है। अतः यह विपरीत सिद्धान्तों, मतों, जातियों इत्यादि सभी को अपने में आत्मसात् करने में समर्थ रही है। विभिन्न धर्म तथा सिद्धान्तो में समन्वय स्थापित करने का श्रेयः सामर्थ्य भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग रहा है। **'परस्परं भावयन्तः परममाप्स्यथ।'** अर्थात इसमें परस्पर सहायता और सहयोग प्राप्त कर कल्याण की प्राप्ति का कथन दिया गया है। अनेकता में एकता की संकल्पना वैदिक काल से आज भी विद्यमान है ।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं नो मनांसि जानताम

साथ–साथ चलो, साथ–साथ बोलो तथा तुम्हारा मन भी साथ–साथ होवे – 'इस प्रकार भारतीय संस्कृति में अनेकता में एकता का उपदेश दिया गया है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव अधिकारों की चेतना को धर्म एवं दण्ड द्वारा व्यवस्थित करने का सद्प्रत्यन किया। धर्म एवं दण्ड द्वारा राज्य शासन का संचालन करता था।

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम् ।। (अर्थशास्त्र 1/19)

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजा के कर्त्तव्यो का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। महामति आचार्य कौटिल्य के अनुसार – प्रजा का सुख एवं हित ही राजा का सुख एवं हित होता है । राजा का अपना कोई सुख नही होता है। कौटिल्य के अनुसार जनता की नैतिक और भौतिक समृद्धि को, लौकिक और पारलौकिक कल्याण को तथा साथ ही वितरणात्मक न्याय को सुनिश्चित करना राज्य के अस्तित्व का मूल प्रयोजन है। सुधारात्मक न्याय के अन्तर्गत कौटिल्य ने राज्य पर यह दायित्व डाला है कि वह कानूनों के उल्लघंन द्वारा प्रजा के अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले व्यक्तियों को समुचित दण्ड देकर तथा प्रजा के विभिन्न वगों के मध्य, किसी अधिकार के प्रश्न पर मतभेद या विवाद हो जाने पर उसका समुचित निपटारा करके प्रजा के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करें । राज्य की लोक कल्याणकारी प्रवृति को भलीभांति स्पष्ट करते हुये उन्होंने ने कहा कि अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का संरक्षण, संरक्षित का संवर्द्धन तथा सवंर्द्धित का उचित प्रकिया से सुयोग्य व्यक्तियो में वितरण ही राज्य का प्रमुख कार्य है।

व्यक्ति की गरिमा के सन्दर्भ में प्राण की सर्वाधिक महिमा है । प्राण की सुरक्षा सदैव ही राज्य का दायित्व रहा है। राज्य की उत्पति और नरेशों की स्थापना, प्राण की सुरक्षा और देहिक स्वतंत्रता के कारण हुई है। रामायण काल में प्राण के अधिकार का महत्व इस सीमा तक था कि प्राण की सुरक्षा के निमित्त राज्य से सैन्य सहायता की याचना भी की जा सकती थी और राज्य नागरिक को सहायता से वंचित नही करता था। आर्य जाति के नागरिकों को जब असुरों की ओर से प्राण का अधिक भय होता था तब विश्वामित्र जैसे लोक नेता राजा से सैन्य सहायता की याचना के लिये बिना किसी बाधा के पहुंच जाते थे। विश्वामित्र अपने आश्रम वासियों के प्राण की सुरक्षा के लिए राजा दशरथ से सैन्य सहायता की याचना करने गये थे और वहां तक राजा दशरथ को वह प्रस्ताव तत्काल मान्य हो गया था । दशरथ के संकोच का कारण केवल यह था कि उन्होने स्वयं राज पुत्रो की ही याचना कर ली थी। इस संकोच का राजगुरू वशिष्ट ने विरोध किया और दशरथ राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम की सुरक्षा हेतु भेजने को विवश हो गये। आतताइयों और आतंककारियो का किसी भी क्षत्रिय द्वारा तत्काल वध किया जा सकता था । इस प्रकार प्राण का मूल्य निर्विवाद था और राजाज्ञा द्वारा प्राण दण्ड का अवसर प्रस्तुत ही नहीं होता था । असहाय और असमर्थ व्यक्ति राज्य से प्राणों की सुरक्षा के अधिकारी होते थे और स्वयं सुरक्षा में असमर्थ होने की दशा में किसी भी क्षत्रिय से अपनी रक्षा करवा सकते थे । आधुनिक राजनीति के स्वतंत्रता एवं समता जैसे आकर्षक अधिकार, प्राचीन भारत में प्राण के अधिकार की ही अभिव्यक्तियां थे। स्वतंत्रता प्राण की सुरक्षा का ही एक सहयोगी भाव था। स्वतंत्रता का अर्थ प्राण का आदर करना था । मनुस्मृति मे आत्मा के अनादर का सर्वथा निषेध है। श्री और समृद्धि से विहीन व्यक्ति भी आत्मा के कारण आदरणीय माना गया है।

(नात्मानमवमन्येत् पूर्वाभिरसमृद्धिभिः। मनुस्मृति 4/137)[2]

नैव राज्यं न राजाऽऽ सीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।

धर्मोणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति सम परस्परम् । (महाभारत)

जब न तो राज्य थे, न राजा थे, न ही दण्ड थे और न ही दण्ड देने वाले थे, तब धर्म ही एकमात्र कारण था, जिससे प्रजा की रक्षा होती थी और प्रजा उसी पर चलना अपना कर्त्तव्य मानती थी । धर्म ही प्रजा की रक्षा करता था । भारतीय चिंतन परम्परा में बौद्ध दर्शन समानता एवं मानवता के उदात्त मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता था। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों में अहिंसा, प्रेम तथा सभी के प्रति मैत्री का भाव सँजोया गया है। यही नही बोद्ध परम्परा स्वतंत्रता की महान् समर्थक रही है। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त मानव अधिकारों की मूल चेतना को उद्घाटित करते है ।

सांराश

भारतीय वाग्ड्मय में मानवाधिकारों की चेतना का विवेचन सर्वत्र व्याप्त है। इसी भावना से अभिभूत होकर भारतीय संविधान में भी अनुच्छेद 12 से 35 तक प्रत्येक व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्रदान किये गये है। इन्ही मौलिक अधिकारों के द्वारा नागरिकों की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, पर्यावरणीय एवं विकास संबंधी अधिकार तथा मौलिक स्वतंत्रताएं स्पश्ट कर दी गई है मानवाधिकारों के बुनियादी घोषणा पत्र की सर्वप्रथम झलक 1215 ईस्वी में इग्लैण्ड के प्रसिद्व ''मैग्नाकार्टा'' तथा अमेरिका के स्वंत्रतता युद्व 1776 तथा फ्रासिंसी क्रांति में दिखाई देता है। मानवधिकारों को सार्वभौमिक सरंक्षण करने के लिए संयुक्त राश्ट्रसंघ द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को सर्वसम्मति से मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को स्वीकार किया गया। तत्पश्चात 1993 में भारत में भी मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम लागू हुआ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पी.एल. मेहता, नीना वर्मा – ह्यूमन राइटस् अण्डर द इण्डियन कॉन्स्टीटयूशन (दिल्ली – दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन प्रा. लि. 1999) पृष्ठ 13
2. डॉ. मधुमुकुल चतुर्वेदी – भारतीय संविधान में व्यक्ति की गरिमा एवं मानव अधिकार (जयपुर, राज पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 2003 पृष्ठ 26 पर उद्धृत)

❖◆❖